संगम Impact Factor : 4.553 Website : www.ginajournal.com ISSN : 2321-8037
SANGAM
A Peer Reviewed International Refereed Journal विशेषांक–समकालीन हिन्दी साहित्य और विमर्श Vol. 11, Issue 4
गीना देवी शोध संस्थान द्वारा प्रकाशित साहित्य, शिक्षा, संस्कृति एवं शोध को समर्पित मासिक

Page No. 13-21

समकालीन उपन्यासकारों में स्त्री विमर्श : विभिन्न परिदृश्य

डॉ. रश्मी मालगी,

प्लॉट नं. 9, सिद्धारुड कॉलनी,

(शिवालय के पीछे), शिवगिरी,

धारवाड 580007 (कर्नाटक)

मोबाईल नं. 8217784916

पितृसत्तात्मक व्यवस्था का उदय कब हुआ होगा, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभवतः इसी कारण इसे ही आदिकालीन अथवा प्रारंभिक सामाजिक व्यवस्था मान कर इसकी शाश्वता की घोषणा कर दी जाती है। परंतु ऐसा नहीं है, आधुनिक युग की खोजों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि सभ्यताओं के आरंभिक दौर में विश्व के सभी देशों में मातृसत्तात्मक समााजिक व्यवस्था थी जो शताब्दियों पहले धीरे–धीरे परिवर्तित होती हुई आधुनिक पितृसत्तात्मक व्यवस्था में बदल गई। संसार के कुछ भागों में आज भी मातृसत्ताक समाज के विश्रृंखलित अंश पाये जाते हैं।

स्त्री सशक्तीकरण को केंद्रीय महत्व का स्थान तो नवजागरण के सुधार आंदोलन से ही प्राप्त हो गया था परंतु स्त्रियों की दशा में सुधार के जो भी प्रयास किए गए, वे मुख्यतः उद्धार की भावना से प्रेरित थे, समानता की भावना से नहीं। इसीलिए इसमें ऐसे अंतर्विरोध दिखाई देते हैं जहाँ स्त्री शिक्षा की हिमायत उसकी पारम्परिक छवि को बनाये रखकर हो रही है ओर मनु आदि की व्यवस्था को उचित माना जा रहा है, स्त्री की स्वतंत्रता समाज के लिए खतरनाक मानी जा रही है। उसके अधिकारों के लिए संघर्ष को हेय दृष्टि से देखा जा रहा है।

जब तक स्त्री शोषण पर पुरुष लेखकों द्वारा विचार किया गया, उनका रवैया सहानुभूति तथा अंतर्विरोध से पूर्ण रहा। परंतु जैसे ही स्त्री पर लिखने के लिए स्त्री ने कलम उठाई, सहनुभूति व अंतर्विरोध दोनों जाते रहे। अब संघर्ष सीधे–सीधे दो खेमों में बंटने लगा हैं एक ओर स्त्री अपनी

अस्मिता के लिए संघर्ष है तो दूसरी ओर उसे अस्मिता रहित बनाये रखने का षडयंत्र है। स्त्री सर्जक है, उत्पादक हैं,उसकी अस्मिता को स्वीकार न कर समाज में उसका भोग्या रूप ही स्वीकृत है, जो उसके मानवीय स्तर को गिरता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सदी के अंतिम दशकों के साहित्य में स्त्री सशक्तीकरण अत्यंत सशक्त रू॰ में उभरकर आया है पर यहाँ भी पुरुष व स्त्री लेखन के अनुसार उनके स्वर भी भिन्न हैं। जहाँ पुरुष लेखन में आज भी स्त्री मूलतः देह है इसीलिए उसका पतन अवश्यभावी है वहीं महिला लेखन स्त्री को देह बनाये रखने की साजिश को नकार रहा है। जिस स्त्री को अग तक विषय माना जाता था, जो एक मात्र थी, वह अब बराबरी के स्तर की न केवल मांग कर रही है बल्कि बराबरी के स्तर पर बैठने भी लगी हैं।

स्त्री परिवार की एक महत्वपूर्ण सदस्या थी परंतु समाज की महत्वपूर्ण सदस्या उसे नहीं माना गया, मानो सामाजिक क्षेत्र उसके लिए पूर्णतः वर्जित था। विडंबना यह है कि जहाँ पुरुष सामाजिक होते के लिए विवाह करता था वहीं विवाह के पश्चात स्त्री का रहा सहा सामाजिक जीवन भी समाप्तप्रायः हो जाता था। सभी परिवार एकनिष्ठ होते थे, पर यह एकनिष्ठता केवल स्त्री के लिए थी, पुरुष पर इसका कोई बंधन न था। वह जितनी चाहे पत्नीयों की संख्या में वृद्धि कर सकता था, बिना विवाह किए भी कइयों को भोग सकता था। कानून, समाज, धर्म, नैतिकता किसी के भी द्वारा वह बाधित न था। परंतु स्त्री के लिए पति के अतिरिक्त दूसरे के विषय में सोचना भी अक्षम्य अपराध था, ईश्वर के बारे में भी नहीं, क्योंकि पति ही उसका इहलौकिक–पारलौकिक परमेश्वर था। स्त्री का पातिव्रत्य न केवल उसका बल्कि भविष्य की पीढियों के उद्धार की भी सामर्थ्य रखता था। जन्म से घुट्टी में पिलाए गए ऐसे संस्कारों से स्त्री का तन ही नहीं मन भी बंदी था। निःसंदेह यह स्थिति चिरस्थाई नहीं हो सकती थी। आधुनिक युग तक आते–आते शिक्षा, संचार माध्यम, आर्थिक स्वावलंबन के विभिन्न पडावों को पार करते हुए भी चाहे स्त्री की बेडियाँ पूरी तरह टूटी नहीं हैं, रुढियों से वह मुक्त नहीं हो पाई है परंतु संस्कार बद्धता के अंधकारपूर्ण आकाश में जहाँ–तहाँ मुक्ति के प्रकाश के कारण दरक अवश्य पडने लगी हैं।

परवर्ती महिला उपन्यासकारों ने स्त्री की विवशताओं को न केवल समझा बल्कि उसे आक्रोशपूर्ण वाणी भी दी। उन विविशताओं के संदर्भ सामाजिक व्यवस्था में खोजें और इस पुरुष प्रधान समाज में स्त्रियों के हक की आवाज बुलंद की। उनके स्त्री चरित्र अपने आक्रोश को दबाते नहीं, फिर चाहे उसकी अभिव्यक्ति में समस्त परम्परागत आदर्श ध्वस्त हो जायें।

'आवाँ' की कथा का तानाबाना स्त्री देह के स्वामित्व की अवधारणा को लेकर बुना गया है। स्त्री की देह जिसे पुरुष हर स्थिति में अपने कब्जे में रखना चाहता हझै। उसके कौमार्य का एकछत्र स्वामित्व पाना चाहता है। विवाह से इतर भी। चूँकि स्त्री सशक्तीकरण का बोलबाला है, नकारात्मक सकारात्मक सभी अर्थों में, जिसके चलते स्त्रियाँ हर क्षेत्र में आगे में संजय मनोई जैसे रईसों को बहुत सूक्ष्म जाल बुनना पडता है नमिता जेसी सुंदर व कुंवारी लडयिों को पटाने में। इसी क्रम में लेखिका ने मजदूर संघों की राजनीति, उनकी खींचातानी, उठापटक व इन सबके बीच स्त्रियों के दैहिक–मानसिक शोषण की तस्वीर खींची है जिसमें अन्ना साहब जैसे शीर्षस्थ नेता भी आकंठ दल–दल में धंसे हैं। जिसके लिए स्त्रीत्व की अवधारणा व कुछ नहीं महज पश्चिम से आयातित विचार भर हैं। जो देह के आगे स्त्री को जनना नहीं चाहते। तब ''स्त्री की क्षमता को उसकी देह से ऊपर उठकर स्वीकार न करने वाले रुढ, रुग्ण समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा?''[1] यह दायित्व बोध कराना ही उसका उद्देश्य है।

'दिलादानिश' में लेखिका ने सामंती पितृसत्ता में स्त्री (ब्याहता और रखैल दोनों) की हैसियत का बेबाक विश्लेषण किया है। उनके द्वारा चयनित पात्रों के नाम ही इस सामंती विशिष्टता को उजागर करदेते हैं। पितृसत्ताक मुखिया सकील साहब कृपा नारायण हैं जो कब अपनी कृपा पत्नी पर बरसायेंगे, कब प्रेमिका पर, बरसायेंगे भी या यूँ ही मुगालते में रखेंगे, उनकी इच्छा। मुखिया है, इसलिए घर कुनबे के गहने–जेवर, मालमत्ता तो उनका है ही, संरक्षक होने के नाते प्रेमिका के जेवरों की पिटारी पर भी नाग बने बैठे हैं, फिर भी सबको अपनी दानिशमंदी के भ्रम में उलझाये रखते हैं। पत्नी कुटुंब प्यारी जिसकी सरहदें घरक ी चारदीवारी बच्चों के लालन–पालन तक सीमित हैं वह करेगी भी क्या ''गहनों की बकुची में से अक्ल की पुडिया निकाल लेगी या भंडार घर से पैसा कमाने का तजुर्बा समेट लेगी।''[2] और प्रेमिका महकबानों जिसका अस्तित्व ही कृपानारायण से घटिया रईस की भाँति कुछ ढंग का लिया दिया नहीं। दोनों ही परतंत्रता सामंती समाज में उनकी। आर्थिक परवशता के कारण के कारण है। इस स्थिति का विश्लेषण करती हुई निर्मला जैन लिखती है, ''नारीवादी शब्दावली में यह पूरी वस्तुस्थिति विवाह संस्था और अविवाहित मातृत्व की समस्या को बिना नारे डछाले, बिना संस्थाओं संगठनों, सभाओं की योजना किए बडी संवेदनशीलता से रेखांकित कर देती है। सोबती की सधी कलम से अंतर्वस्तु सहज विश्वसनीय ढंग से परत दर परत ऐसे खुलती जाती है कि उसमें न अतिरिक्त साहसिकता का आभास होता है न स्त्री की शक्तिमत्ता को प्रमाणित करने के लिए करामाती जोड पेबंद नजर आते हैं, गोकि अपनी स्थिति व सामर्थ्य के अनुसार दोनों नारी पात्र वकील साहब से प्रतिशोध तो अपने ढंग से ही ले लेते है।''[3]

'चाक' भी स्त्री सत्ता की स्थापना का आख्यान है। पूरी कथा पर नायिका सारंग हावी है, सारे क्रिया व्यापार उसी के इर्द–गीर्द घूमते हैं। उसके आगे सभी चरित्र बौने मालूम होते हैं। लेकिन वह किसी पौराणिक कथा या लोककथा की नायिका नहीं है जिसके सतीत्व से पापी क्षणीार में भस्म हो उठते थे। इस कसौटी पर कसे तो सारंग खलनायिका ही लगेगी क्योंकि पारम्परिक सतीत्व तो उसमें हैं ही नहीं, फिर भी मामला यहाँ सतीत्व बनाम स्त्रीत्व का नहीं है। उपन्यास में 'स्त्रीत्व' के प्रश्नों के सामने तथाकथित सतीत्व के प्रश्नों को जानबूझकर पीछे धकेला गया है। यह एक अच्छी बात है। यौन शुचिता के कोडे को आखिर स्त्री कब तक बर्दाश्त करें और क्यों करें? स्त्री सत्ता की यह लडाई 'चाक' में राजनीति के माध्यम से आई है। सारंग थोडी पढी लिखी और घर में गोबर पानी का नाम करनेवाली घरेलू परंतु उग्र रूप से चैतन्य स्त्री है। गुरुकुल में क्रांतिकारिता की हद को पार दिए थें परंपरागत स्त्री संहिता से रक्षा की आशा लगाई थी। लेकिन रेशम व गुलकंदी के हृदयविदारक अंत से उसका भ्रम जाता रहा व उसने परंपराप्रदत्त गृहस्थी की सीमाओं का उल्लंघन करने का निर्णय किया।

टपनी बात को ज्यादा शक्तिशालकी ढंग से समाज के सामने रखने के लिए वह राजनीति की दौड में शामिल होती है। देह की सीमाओं में कैद स्त्रीत्व से इंकार करती है फिर भी पति के घर में डटी रहती है। इस क्रम में लेखिका ने ब्रज प्रदेश के गाँवों की उनकी संस्कृति के विभिन्न रंगों में चित्रण किया है। जिससे कई आलोचक उसे 'मैला आंचल' की परंपरा का विस्तार मान रहे हैं परंतु यहाँ अंचल कथानक नहीं बल्कि कथा का माध्यम है वस्तुतः यह ''पुरुष समाज में स्त्री की अपनी पहचान की संकल्पना पत्र है।''[4] चाक उपन्यास में स्त्री सशक्तीकरण को व्यापकता से समेटने का उपक्रम हुआ है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया भी केवल मातृत्व के लिये अपना जीवन दाँव पर नहीं लगा पाती। सास की तरह वह भी अपने आपको सब तरफ से काटकर बेटे पर समर्पित हो सकती थी, पर यह समस्या का समाधान नहीं या अन्यथा क्या कारण था कि पिता द्वारा माँ को प्रताडित समझने व पिता से घृणा करने के बावजूद नरेंद्र स्त्रियों के प्रति संवेदनशील नहीं हो पाया। पिता का दूसरी स्त्री से संबंध कम से कम स्नेहजनित तो था, नरेंद्र के लिये तो हर स्त्री भोग्या मात्र है। माँ उसके लिये इसीलिये सम्मान की पात्र है कि उसने उसके सुखद भविष्य के लिये सोचा, अपने जीवन के विषय में नहीं। माँ के साथ ने ही उसे पिता की प्रतिद्वंद्विता में जिताया है, वस्तुतः माँ का सम्मान संपूर्ण स्त्री जाति का सम्मान नहीं है अन्यथा वह प्रिया के प्रति इतना हृदयहीन न होता।

आज की स्त्री केवल माँ बनकर ही संतुष्ट नहीं है, वह एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की भाँति स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहती है। पिछले सौ बरसों के कथा साहित्य को उलटकर देखें तो आरण्य (समय सरगम) जैसा चरित्र ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा जो अत्यंत बेबाकी से प्रति प्रश्न कर सके, ''माँ सिर्फ ममता ही है क्या। क्याउसके अस्तित्व और व्यक्तित्व के सूत्र अब भी पिता, पति व पुत्र के हाथ में हैं।''[5] आरण्या जीवन के अंतिम पडाव पर खडी एक ऐसी स्त्री है, जो नाती–पोती की चल्लपों से अलग एकाकी अपने होने के एहसास को जी रही है पर उसमें अकेलेपन की व्यथा नहीं है। जीवन को भरपूर जीने का संतोष है। घर परिवार के लिए होम होती रहनेवाली दमयंती व कैरियर के लिए परिवार के झंझट से दूर रहनेवाली कामिनी दोनों का एक जैसा त्रासद अंत इस तथ्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति है कि उद्‌देश्य की प्रधानता के साथ मानव अस्तित्व की कोई और भी सार्थकता है जिस पर स्त्री के संदर्भ में अब तक विचार नहीं हुआ है। मातृत्व स्त्री जीवन का सहज दायित्व हो सकता है, चरम लक्ष्य नहीं। मातृत्व बाधा इसलिये भी लगने लगा है क्योंकि बडे होते बच्चों के केवल माँ के बटुए से मधुर संबंध रह जाते है।

चंद्रकांता जी का 'अपने–अपने कोणार्क' में नायिका कुनी के द्वारा सामाजिक पक्षधरता का अंकन किया है। कुनी के माध्यम से लेखिका ने स्त्री सशक्तीकरण का मुद्‌दा जोर जोर से उठाया है। स्त्री के मस्तिष्क को नकार कर उसे केवल शरीर समझानेवालों के लिएकुनी कहती है, ''यू आर ए ब्यूटिफुल वुमेन। उसके शब्द मुझे अश्लील लगे। उसके गंदे होंठ मुझे इससे पहले ही मैंने उसकी कलाई में दाँत गाड दिए, 'यू बिच'... वह एकदम चिटककर अलग हो गया। बप्पा तक आवाजें पहुँच जाएंगी, मैंने इसकी चिंता नहीं की। वह कोई और हरकत करता, इससे पहले ही मैंने माँ को आवाज की बोड मुझे थोडा सहारा दो, बाथरुम जाऊँगी।''[6] वास्तव में प्रत्येक स्त्री सुरक्ष चाहती है। अतः अपनी सुरक्षा में वह देह प्रदर्शन का सख्त विरोध करती है। उपन्यास में कुनी डॉ. त्रिपाठी के प्रति घृणा करती है। स्त्री का वास्तविक लडाई शरीर बेचने के प्रति विरोध है, सामाजिक स्थिति में तभी परिवर्तन आ सकता हैं लेखिका ने अपने उपन्यासों में नारी सशक्तीकरण के अंतर्गत स्त्रियों को सही मार्ग दिखाने का प्रयास किया है। स्त्री स्वातंत्र्य के नाम पर अश्लीलता का विरोध कर उनके अधिकारों के प्रति ध्यान आकर्षित किया है।

स्त्री स्वातंत्र्य में पुरुष को विपक्ष बनाने के बजाय उसे साथी बनाने पर जोर दिया है। परंतु यह साथी मगर अपने पारंपरिक पुरुषात्मक संस्कारों से मुक्त नहीं होता, अर्थात स्त्री को मात्र जिस्म समझने की भूल करता है तो उसका भी विरोध लेखिका करती है। साथ ही पुरुष की मानसिकता में समानता का दर्जा मिले, इसका समर्थन करती है। संस्थाओं से समाज के व्यापक हित की रक्षा

देती है। अतः पूरे आत्माभिमान के साथ जीवन को जीना उसका लक्ष्य होता है। चंद्रकांता जी पुरुषों की अपेक्षा स्त्री की सहनशीलता पर अधिक बल देता है। क्योंकि तभी अपने अस्तित्व को बचाने के लिए स्थितियों का हटकर सामना कर सकती है।

'दस द्वारे का पींजरा' की नायिका रमाबाई सदाव्रत की मृत्यु के बाद फिर एक लंपट पुरुष समाज के सामने प्रदर्शित हो जाती है। इस समय सदाव्रत के सहयोगी और मित्र कहलानेवाले दादा साहब उसकी सहायता करते हैं। इस व्यक्ति के प्रति रमा के दिल में स्नेह व आदर था। लेकिन धीरे–धीरे दादासाहब रमा को चाहने लगता है। यह पहले से ही विवाहित था। दादासाहब के इस हरकत से रमाबाई परेशान थी। धीरे–धीरे उसे ऐसा लग रहा था कि वह दादासाहब के अहसानों के तले दबती जा रही है, जो उसके स्वाभिमान को बिलकुल तिरस्कृत था। उसी दिन वह निर्णय लेती है कि वह जल्दी ही इस शहर छोडकर जाएगी। फेनी पॉवर्स व फुले दम्पत्ति की सहायता से वह पुणे जाती है। जाने से पहले अपना घर दादासाहब के छोटे बच्चे के नाम कर देती है। इस तरह दादासाहब के कर्ज को चुका देती है। क्योंकि वह उनके एहसास को लेकर जीना नहीं चाहती। रमाबाई के शहर छोडने के फैसले से दादासाहब क्रोधित हो जाते हैं। परंतु वे उसे रोकते नहीं। एक ओर शहर के गरीब, कुचले हुए लोग रमाबाई के जाने से दुःखी थे, तो दूसरी ओर सदाव्रत के विरोधी अखबार में रमा के विरुद्ध तरह–तरह के अफवाहें फैलाने लगे थे।

निःसंदेह समाज में अश्लीलता व कामुकता फैलाने के दोषी हैं। सूचना क्रांति के इस युग में महिलाओं की यह छवि खतरनाक है। स्त्री को अपने शरीर पर होनेवाले शोषण का विरोध करना सटीक–सा लगता है।

हरिमोहन द्वारा लिखित उपन्यास 'इस दौर में हमसफर' स्त्री सशक्तीकरण का एक सुंदर उदाहरण है। उपन्यास की नायिका अमृता विवाह की विषमताजन्य परिस्थितियों से आबद्ध है। अमृता के मन मे ंएक द्वंद्व निरंतर चलता रहा। उसकी छटपटाहट अपनी गृहस्थी को न बचा पाने की पीडा व जीवन में अपने अस्तित्व को पहचानने की छटपटाहट निरंतर दिखायी देती है।

स्त्री सशक्तीकरण का मूल उद्‌देश्य ही स्त्री जागरुकता है। स्त्री सशक्तीकरण ने महिलाओं को उच्च स्थिति में पहुँचाया है, साहित्य व समाज में प्रकट हो रहे है, उनसे अछूता नहीं है। सृष्टि के आरंभ से ही नर–नारी की स्थितियाँ भिन्न रही हैं। सभी परंपरागत समाज पुरुष प्रधान रहे हैं। अतः विश्व में स्त्री की स्थिति पुरुषों की तुलना में भिन्न रही है। इसी हीन स्थिति से उभरने का प्रयास समय–समय पर होते आ रहे हैं।

संदर्भ :

1. चित्रा मुद्‌गल, आवाँ, पृ. 258

2. कृष्णा सोबती, दिलोदिनाश, पृ. 171

3. निर्मला जैन, कथा प्रसंग यथा प्रसंग, पृ. 128

4. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ. 311

5. प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ. 216

6. चंद्रकांता, अपने–अपने कोणार्क, पृ. 126